

सिमरन

भाग - १

शब्द-कोश में 'सिमरन' के अर्थ इस प्रकार दर्शाए गये हैं — “इष्ट का 'नाम' अथवा 'गुण', मन की वृत्तियों को एकाग्र करके याद करना ।”

आदिकाल से ही साधुओं, सन्तों, महापुरुषों व गुरुओं ने आध्यात्मिक साधना के लिए 'सिमरन' करने की सिफारिश की है ।

परन्तु गुरबाणी में 'सिमरन' को विशेष महत्व दिया गया है तथा सिमरन करने का पक्का आदेश दिया गया है ।

गुरबाणी पढ़ते हुए, सत्संग में विचरण करते हुए 'सिमरन' के महत्व व अहमियत को पढ़-सुन कर कई जिज्ञासुओं के मन में सिमरन करने का उत्साह तथा उद्यम भी पैदा होता है । परन्तु जब वह सिमरन करने लगते हैं तो उनको कई भ्रान्तियों तथा कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है ।

साधारणतया, जिज्ञासुओं की सिमरन के विषय में निम्नलिखित शंकाएँ व भ्रम होते हैं —

1. 'सिमरन' क्या है ?
2. सिमरन किस 'शब्द' या मंत्र का करना चाहिए ?
3. सिमरन किस समय करना चाहिए ?
4. सिमरन में मन नहीं टिकता !

'सिमरन' क्या है — किसी बात या ख्याल को —

मन में,
चित्त में,
अन्तःकरण में,

अन्तर्त्मा में —

दृढ़ करने के लिए,
बसाने के लिए,
रस-रूप करने के लिए,
प्रकट करने के लिए,

उस को बार-बार —

याद करने,
दोहराने,
जपने,
रटने,
अभ्यास करने,
कमाने

की क्रिया को 'सिमरन' कहा जाता है ।

'सिमरन' की 'आध्यात्मिक क्रिया', अर्थात् —

जिह्वा द्वारा 'जपना'
मन में ध्यान रखना,
चित्त द्वारा 'आराधना'
सुरति द्वारा 'अजपा-जाप'
लिव द्वारा 'आत्म-रस पान करना'

ही जिज्ञासुओं का विशेष कर्तव्य है, धर्म है, जीवन है ।

यह आध्यात्मिक 'सिमरन' की क्रिया 'गुरुप्रसाद' द्वारा 'साध-संगति' में आसान हो जाती है ।

सृष्टि के दो मण्डल हैं —

1. 'मायकी-मण्डल' अथवा 'द्वैत भावना' का मण्डल
2. 'आत्मिक-मण्डल' अथवा 'सचखण्ड'

‘मायकी-मण्डल’ अहम् की भ्रान्ति से उत्पन्न हुआ है तथा इसमें ‘मैं-मेरी’ की भावना का बोलबाला तथा व्यवहार है ।

जीव अनगिनत जन्मों से इस अहम् की भ्रान्ति में ही विचरण करता आया है।

इस मैं-मेरी की कूढ़ भ्रान्ति में ही जीव —

सोचता,
चिन्तन करता,
योजनाएँ बनाता,
कर्म करता,
परिणाम भोगता,

तथा —

काम,
क्रोध,
लोभ,
मोह,
अहंकार,

की वासनाओं में गलतान रहता है तथा आवागमन के चक्कर में फँसा रहता है —

पलचि पलचि सगली मुई झूठै धंधै मोहु ॥ (पृ १३३)

यह ‘मैं-मेरी’ का अहसास या ‘अहम्’ जीव के साथ भूत-प्रेत की भाँति, कई जन्मों से चिपका हुआ है, जिस कारण ‘हरि’ विसर जाता है ।

एह माइआ जितु हरि विसरै
मोहु उपजै भाउ दूजा लाइआ ॥ (पृ ९२१)

इस तरह मैं-मेरी का अलग अस्तित्व अथवा ‘अहम्’ हमारे —

ख्यालों में,
सोच में,

चिन्तन में,
भावना में,
कर्म में,
धर्म में

अर्थात् — जीवन के हर पक्ष में प्रवृत्त हो रहा है, जो हमारे —

मन,
तन,
चित्त,
दिमाग,
अन्तःकरण,
मायकी 'आपा' (self)

की निचली तहों में धँस-बस-रस कर दृढ़ हो चुका है ।

इस तरह हम 'मैं-मेरी' या अहम् का अनजाने ही —

चिंतन
अभ्यास
सिमरन

करते रहते हैं ।

अहम् ग्रस्त 'अस्तित्व' का यह एहसास हमारे अन्दर इतना दृढ़ हो चुका है कि 'मैं-मेरी' की भावना के बिना हमारा जीवन अधूरा, फीका तथा नीरस प्रतीत होता है।

'जीव' ब्रह्म-स्वरूप है, ज्योति-स्वरूप है —

मन तूं जोति सरूपु है अपणा मूलु पछाणु ॥ (पृ. ४४१)

जब यह 'जीव' माँ के गर्भ में उल्टा लटका था, तब अपने कर्त्ता का सिमरन करता था । परन्तु जब जीव बाहर 'मायकी-मंडल' में आता है, तो इसे 'माया' का रंग चढ़ जाता है । यह अपने कर्त्ता — अकाल-पुरुष को भूल कर, माया के भ्रम-भुलाव में, 'मैं-मेरी' का अभ्यास या 'सिमरन' करने लगता है ।

जैसी अगनि उदर महि तैसी बाहरि माइआ ॥
 माइआ अगनि सभ इको जेही करतै खेलु रचाइआ ॥
 जा तिसु भाणा ता जंमिआ परवारि भला भाइआ ॥
 लिव छुड़की लगी तिसना माइआ अमरु वरताइआ ॥
 एह माइआ जितु हरि विसरै मोहु उपजै भाउ दूजा लाइआ ॥
 कहै नानकु गुर परसादी जिना लिव लागी
 तिनी विचे माइआ पाइआ ॥ (पृ ९२१)

माँ के गर्भ में जीव मायकी-मंडल को भूला हुआ था तथा सिमरन द्वारा उसकी 'लिव' अपने कर्ता के साथ जुड़ी हुई थी। परन्तु मायकी-मंडल में जन्म लेते ही 'माया' या 'मैं-मेरी' का भ्रम आ चिपका तथा उसकी अपने कर्ता से लिव टूट गई। इस प्रकार जीव पुनः 'माया' की कुसंगति द्वारा 'अहम्' के भ्रम-भुलाव में डूब जाता है।

दस मास माता उदरि राखिआ बहुरि लागी माइआ ॥ (पृ ४८१)
 विचहु गरभै निकलि आइआ ॥
 खसमु विसारि दुनी चितु लाइआ ॥ (पृ १००७)

इस प्रकार 'माया' की 'कुसंगति' अथवा 'रंगत' से जीव -

'तू-तू'
 का सिमरन छोड़कर
 'मैं-मैं'

का सिमरन करने लग जाता है। इस से जीव की -

जीवन-दिशा,
 जीवन-मनोरथ,
 जीवन-उद्देश्य,
 जीवन-टेक,
 जीवन-निशाना,

'माया-परायण' हो जाता है।

जीव हर क्षण, हर पल, दिन-रात किसी न किसी ख्याल का —

चिंतन,

सोच-विचार,

योजना,

अभ्यास,

स्मरण

करने में लगा रहता है। यह 'सिमरन-अभ्यास' चाहे —

'मायकी-रंगत' वाला हो

या

'आत्म-रंगत' वाला

पर हम, हर समय, सदा, सोते-जागते — सिमरन की क्रिया जरूर करते रहते हैं। क्योंकि हमारा मन किसी भी समय खाली रह ही नहीं सकता।

कितनी हास्यप्रद बात है कि जिस 'क्रिया' या 'सिमरन' का हम हर पल, दिन-रात, अनजाने ही अभ्यास कर रहे हैं, उसके विषय में हम बार-बार ऐसे-गरे से पूछते फिरते हैं कि 'सिमरन' क्या है ? या सिमरन कैसे करें ?

हम 'मैं-मेरी' वाले मायकी जीवन-परायण होकर सदा —

सोचते हैं,

इच्छाएं करते हैं,

योजनाएं बनाते हैं,

उद्यम करते हैं,

परिश्रम करते हैं,

कठिन श्रम करते हैं,

कर्म करते हैं,

परिणाम भोगते हैं,

आशा-तृष्णा में विचरण करते हैं,

दुख-सुख भोगते हैं,

ईर्ष्या-द्वेष तथा वैर-विरोध की वासनाओं में डूबे रहते हैं व अपने कर्ता को भुला कर, अपना अमूल्य जीवन व्यर्थ गँवा रहे हैं । परन्तु हमें अपनी इस हानिकारक अधोगति का ज्ञान ही नहीं है ।

इस कारण गुरबाणी हमें प्रताड़ित करती है —

बारू भीति बनाई रचि पचि रहत नही दिन चारि ॥

तैसे ही इह सुख माइआ के उरझिओ कहा गवार ॥१॥

अजहू समझि कछु बिगारिओ नाहिनि

भजि ले नामु मुरारि ॥

(पृ ६३३)

यह 'सिमरन' सारी सृष्टि के जीव 'चेतन' या 'अचेत' अवस्था में कर रहे हैं । चौरासी लाख योनियां 'अचेत' अवस्था में अनजाने तथा सहज ही अपने कर्ता का सिमरन, अपने-अपने तरीकों से कर रही हैं तथा ईश्वरीय आज्ञा का पालन कर रही हैं ।

सिमरै धरती अरु आकासा ॥ सिमरहि चंद सूरज गुणतासा ॥.....

सिमरहि पसु पंखी सभि भूता ॥ सिमरहि बन परबत अउधूता ॥

लता बली सारव सभ सिमरहि रवि रहिआ सुआमी सभ मना ॥

सिमरहि थूल सूरवम सभि जंता ॥ सिमरहि सिध साधिक हरि मंता ॥

गुपत प्रगट सिमरहि प्रभ मेरे सगल भवन का प्रभ धना ॥

(पृ १०७८-७९)

परन्तु मनुष्य योनि वाला 'जीव' अपनी चेतना व कूढ़ बुद्धि के द्वारा माया के नाना प्रकार के लुभावने चमत्कारों को देखकर मायकी भ्रम-भुलाव में पड़ गया है तथा अपने कर्ता को भुला कर माया या 'मैं-मेरी' का सिमरन करने लग गया है ।

झूठी माइआ देखि कै भूला रे मना ॥

(पृ ४८६)

आसा भरम बिकार मोह इन महि लोभाना ॥

झूठु समग्री मनि वसी पारब्रहमु न जाना ॥

(पृ ८१५)

इन्हि माइआ जगदीस गुसाई तुम्हरे चरन बिसारे ॥

किंचत प्रीति न उपजै जन कउ जन कहा करहि बेचारे ॥ (पृ ८५७)

इस प्रकार मनुष्य के —

तत्त

मम

चित्त

वृत्ति

स्रुति

अन्तःकरण

यहाँ तक कि उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व (self) पर 'मायकी रंग' इतना गहरा चढ़ा हुआ है कि उसे मायकी भ्रान्ति वाले अहम्यस्त जीवन के अतिरिक्त किसी अन्य —

उत्तम

सुहावने

ऊंचे

सुखदायी

कल्याणकारी

'दैवीय' जीवन का —

ज्ञान

अहसास

यकीन

विश्वास

ही नहीं आता !!!

गुरबाणी पढ़ते-पढ़ते या साध-संगत में विचरण करते हुए यदि थोड़ा बहुत 'दैवीय विश्वास' या 'श्रद्धा भावना' पैदा भी होती है, तो वह शीघ्र ही माया के बादलों के साथ उड़ जाती है ।

सत्संग से बाहर निकलते ही हमारे मन को 'माया' या 'मैं-मेरी' की —

भावना

कल्पना

रव्याल

आशा-तृष्णा

चिन्ता-फिकर

काम-क्रोध

लोभ-मोह

ईर्ष्या-द्वेष

वैर-विरोध

आदि वासनाएँ आ घेरती हैं, जिसके परिणामस्वरूप 'दैवीय भावना' या 'हरि सिमरन' भूल जाता है ।

हास्यप्रद बात तो यह है कि 'मायकी-सिमरन' की क्रिया के लिए जीव को कोई —

गुरू नहीं धारण करना पड़ता,
उपदेश नहीं लेना पड़ता,
विद्या नहीं सीखनी पड़ती,
पूछताछ नहीं करनी पड़ती,
खोज नहीं करनी पड़ती,
कर्म-धर्म नहीं करने पड़ते,
कठिन जप तप नहीं करने पड़ते !!

हरि को भुलाते ही 'अहम्' के पाँचों दूत — काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार — अनजाने ही जीव को अपने नाना प्रकार के लुभावने, मोहक जादू में फंसा लेते हैं, सारी उम्र 'द्वैत-भावना' या 'मैं-मेरी' की कैद में जकड़े रखते हैं तथा मदारी के बन्दर की तरह नचाते रहते हैं तथा अपना बैखरीद गुलाम बनाये रखते हैं —

माइआ मोहु दुरवु सागरु है बिरवु दुतरु तरिआ न जाइ ॥

मेरा मेरा करदे पचि मुए हउमै करत विहाइ ॥ (पृ १४१७)

अनेक धर्मों तथा धर्म-प्रचार के बावजूद, जीव इस मानसिक-तिलस्म अथवा मायकी जादू से अनजान व बेखबर ही रहता है ।

इस तरह अनजाने, सहज-स्वभाव ही जीव 'माया' की गुलामी करता हुआ अपने चारों ओर माया की जंजीरों को मजबूत करके मायकी बंधनों में जकड़ा रहता है ।

भूलिओ मनु माइआ उरझाइओ ॥

जो जो करम कीओ लालच लगि तिह तिह आपु बंधाइओ ॥

(पृ ७०२)

इहु कुटंबु सभु जीअ के बंधन भाई भरमि भुला सैंसारा ॥

(पृ ६०२)

नानक अउगुण जेतड़े तेते गली जंजीर ॥

(पृ ५९५)

मायकी जीवन या मायकी-सिमरन की क्रिया में हमारा मन —

सदा सावधान रहता है ।

चतुराइयाँ करता रहता है ।

आशा-तृष्णा में विचरण करता है ।

मानसिक झमेलों में व्यस्त रहता है ।

चिंता-फिकर में डूबा रहता है ।

मैं-मेरी की भावना में ग्रस्त रहता है ।

कर्म करता हुआ बंधनों में फंसता है ।

अपने कर्मों के परिणामस्वरूप दुख-सुख भोगता है ।

झूठे प्यार के मोह में फँसा रहता है ।

तुच्छ वासनाओं का गुलाम बना रहता है ।

ईर्ष्या-द्वेष में जलता-भुनता रहता है ।

वैर-विरोध में तपता-स्वपता रहता है ।

इस तरह हमारा 'हीरे जैसा जन्म' कोड़ी बदले व्यर्थ जा रहा है । यदि हमारे नित्य प्रति जीवन के ख्यालों तथा क्रिया पर गहन विचार किया जाये, तो पता चलेगा कि हम माया के प्रपंच में इतने गलतान हैं कि गन्दगी के कीड़े की तरह हमें अपने 'मायकी-जीवन' के अतिरिक्त और कुछ सूझता ही नहीं !!

इसका कारण यह है कि हमारा मन कई जन्मों से माया का अटूट, अनिन, लगातार, सिमरन करता हुआ — माया का ही स्वरूप बन चुका है ।

ऐसे 'माया-रूपी' मन में से — माया की ही —

संगत

भङ्स

भावना

दिशा

टेक

उत्पन्न होनी स्वाभाविक व अनिवार्य है ।

दूसरे शब्दों में हमारा 'माया-रूपी' मन अनजाने ही, सहज-स्वभाव, बिना प्रयास के, लगातार अटूट मायकी सिमरन में डूबा हुआ है । इस बात का प्रमाण हमारा वर्तमान 'मायकी जीवन' है जो हमारे लगातार मायकी-सिमरन अभ्यास का परिणाम तथा निचोड़ है ।

यदि इस 'सिमरन की क्रिया' की 'मायकी-दिशा' को —

उल्टाकर

'आत्मिक-दिशा' की ओर मोड़ा जाये तो हमारी सिमरन की क्रिया 'आत्म-परायण' हो सकती है तथा हमारा 'जीवन' सफल हो सकता है ।

'सिमरन' तो हम कर रहे हैं । इसकी 'क्रिया' तो वही रहनी है, परन्तु इसकी —

दिशा

टेक

निशाना

उद्देश्य

बदलने की आवश्यकता है ।

अब मनु उलटि सनातनु हुआ ॥

तब जानिआ जब जीवत मूआ ॥

(पृ ३२७)

मेरे मन मन ही उलटि समाना ॥

गुर परसादि अकलि भई अवरै नातरु था बेगाना ॥

(पृ ३३३)

उलट भई जीवत मरि जागिआ ॥

सबदि रवे मनु हरि सिउ लागिआ ॥

(पृ २२१)

उलटी सकति सिवै घरि आई मनि वसिआ हरि अंम्रित नाउ ॥ (पृ ७८६)

दूसरे शब्दों में 'मायकी-सिमरन' वाले जीवन को आत्मिक रंगत की 'कलम' लगाने (पियोंद) (grafting) की आवश्यकता है । परन्तु यह 'आत्मिक-खेल' कठिन है -

जन नानक इहु खेलु कठनु है किनहूं गुरमुखि जाना ॥

(पृ २१९)

हाँ जी ! यह 'आत्मिक-कठिन-खेल' गुरुमुख प्यारों की संगति में आसान तथा सहज ही संभव हो सकती है ।

- क्रमशः

卐 卐 卐